The Rubrics
JOURNAL OF INTERDISCIPLINARY STUDIES

ISSN 2454-1974
Volume 8 Issue 2, March 2026
Website: https://therubrics.in

RESEARCH ARTICLE

समकालीन हिंदी रंग- प्रयोग और पहचान संबंधी नाट्य-प्रस्तुतियाँ

डॉ. मुकेश कुमार बर्णवाल

सहयोगी अध्यापक, हिंदी विभाग, विवेकानंद महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत;

mukeshburnwal@vivekanand.du.ac.in

Accepted version published on 5 March 2026

https://doi.org/10.5281/zenodo.18863823

सारांश

यह शोधपत्र समकालीन हिंदी रंगमंच के माध्यम से धार्मिक व जातीय पहचान और उससे उत्पन्न सांस्कृतिक संघर्ष जटिलताओं का विश्लेषण करता है। सैमुएल हटिंगटन के 'सभ्यताओं के संघर्ष' के सिद्धांत और 9/11 के बाद की वैश्विक परिस्थितियों के संदर्भ में, यह पत्र बताता है कि कैसे पहचान-आधारित भेदभाव और पूर्वाग्रह मानवीय संवेदनाओं को विकृत कर रहे हैं। शोधपत्र में 'खामोशी सीली सीली', 'मैं हूँ यूसुफ और ये है मेरा भाई', 'फाइनल सोल्यूशन' और 'लोकल फॉरनर' जैसे नाटकों की समीक्षा की गई है। ये प्रस्तुतियाँ कश्मीरी पंडितों के पलायन, उनकी त्रासदी, गुजरात दंगों की नफरत और पूर्वोत्तर भारतीयों के प्रति नस्लीय भेदभाव जैसे गंभीर मुद्दों को उजागर करती हैं। निष्कर्षतः, यह शोधपत्र भारतीय समाज के वैचारिक पाखंड और आंतरिक भेदभाव की आलोचना करता है और रंगमंच को सामाजिक विसंगतियों के खिलाफ एक सशक्त, परिवर्तनकारी और संवादपरक माध्यम के रूप में स्थापित करता है।

बीजशब्द: सांप्रदायिकता, नस्लीय पहचान का संकट, समकालीन हिंदी रंगमंच, पूर्वाग्रह, नागरिक अधिकार

Copyright: © 2026 Magnus Publishing, Pune, India.

FULL PAPER

प्रसिद्ध राजनीति-विज्ञानी सैमुएल हटिंगटन ने पिछली शताब्दी के अंत में ही धर्म-संबंधी प्रश्नों पर बात करते हुए 'सभ्यताओं का संघर्ष' नाम का विवादित सिद्धान्त प्रतिपादित किया था जिसका सार यह था कि शीतयुद्धोत्तर संसार में, जबकि दुनिया एक ध्रुवीय हो गई है तो लोगों की सांस्कृतिक और धार्मिक पहचान ही संघर्षों का मुख्य कारण होगी।

2001 के अमेरिका में पेंटागन पर हमले के बाद वास्तव में पूरी दुनिया धार्मिक पहचान को लेकर बहुत सचेत और पूर्वग्रह ग्रसित हो गई। पूरी दुनिया में इस्लाम और इस्लाम के अनुयायियों के प्रति विद्वेष बढ़ गया, खासकर जिन देशों में दक्षिणपंथी ताकतवर स्थिति में हैं वहाँ की स्थिति सचमुच सोचनीय है। धर्म आधारित भेदभाव, नफरत दोनों पक्ष को विकृत कर देता है। एक तरफ पीड़ित असुरक्षा भाव से भरकर तनावग्रस्त होते हैं वहीं उनके विरोधी अपने जेहन में हमेशा नफरत की अफीम भरे रहते हैं और कुछ सकारात्मक सोच ही नहीं पाते हैं।

ऐसा नहीं कि दूसरे धर्म के प्रति नफरत या विद्वेष किसी एक धर्म को मानने वाले की ही फितरत है, यह विकृति कम या ज्यादा सभी में व्याप्त है, जो जहाँ ताकतवर हैं, वहाँ वही उत्पीड़क की भूमिका में आ जाता है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण भारत विभाजन के वक्त सीमा के दोनों तरफ हुई हिंसा है जिसे विश्व इतिहास में सबसे हिंसक घटना के तौर पर याद किया जाता है। वर्तमान दौर में विश्व के फलक पर बौद्ध धर्म के अनुयायी देश म्यांमार में रोहिंग्या मुसलमानों के खिलाफ व्यापक पैमाने पर की गई हिंसा में इसका विकृत रूप देख सकते हैं। एक देश जो बौद्ध धर्म को मानता है, वह धर्म जिसकी नींव में ही अहिंसा का सिद्धान्त है। इसके अलावा सीरिया में ISIS नाम के अतिवादी संगठन की हिंसा को भी देखना चाहिए।

भारत भी इस विकृति से पीड़ित है, खासकर पिछले दस सालों में। हालाँकि भारत में अल्पसंख्यक वर्ग चहुँओर भेदभाव, शोषण और हिंसा से पीड़ित हैं लेकिन कुछ मौके ऐसे भी आए जब देश के बहुसंख्यक समुदाय जो किसी विशेष राज्य में अल्पसंख्यक हैं, उस विशेष राज्य में प्रताड़ित हुए। निर्देशक सुरेश शर्मा द्वारा निर्देशित और *20*वें भारत रंग महोत्सव में प्रदर्शित नाटक 'खामोशी सीली सीली' इतिहास की ऐसी ही एक त्रासदी की ओर इशारा करता नाटक है। यह नाटक अमेरिकी नाटककार जोसेफ स्टेन के 1964 ई. में लिखे नाटक 'फिडलर ऑन द रूफ' पर आधारित है। मूल नाटक में यहूदियों के विस्थापन को केन्द्र में रखा गया है जबकि इस नाटक में नब्बे के दशक में कश्मीर की वादियों में कश्मीरी पंडितों की सामूहिक हत्या और उनके विस्थापन को केन्द्र में रखा गया है।

नाटक में पृथ्वीनाथ साहनी अपनी पाँच बेटियों के साथ रहते हैं और अपनी पंरपराएँ, रीति-रिवाज को बचाए रखने की जद्दोजहद में हैं जबकि उनकी बेटियाँ आजाद ख्यालात की हैं और प्रेम विवाह की ओर कदम बढ़ाती हैं। पृथ्वीनाथ इसकी इजाजत भी दे देते हैं लेकिन जब एक बेटी पिता को बिना बताए एक मुस्लिम

लड़के से शादी कर लेती है तो पिता का दर्द उभर जाता है। इसके समानांतर कश्मीर में अलगाववादी ताकतों ने गैर मुस्लिम निवासियों पर सितम ढाना शुरू कर दिया और वे कश्मीरी पंडित जो सदियों से घाटी में रहते आए थे उन्हें घाटी छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। पलायन का यह दर्द नाटक में बखूबी दिखाया गया है।

कश्मीरी पंडितों का घाटी से पलायन आजाद भारत के इतिहास का ऐसा धब्बा है जिस पर आजतक न ठीक से साहित्य लिखा गया है और न नाटक या फिल्म। 'खामोशी सीली सीली' इन्हीं कोशिशों में एक है। हिंदी सिनेमा में विधु विनोद चोपड़ा के निर्देशन में 'शिकारा' नाम की फिल्म में इस त्रासदी के कुछ पहलुओं को रखा गया है। 'शिकारा' फिल्म की कथावस्तु का आधार प्रसिद्ध कश्मीरी लेखक राहुल पंडिता की किताब Our Moon has Blood Clots है।

कश्मीर दुनिया की सबसे खूबसूरत जगहों में से है। नाटक के दृश्यांकन में भी इसकी खूबसूरती दिखानी की पूरी कोशिश की गई है। पूरा स्टेज बर्फ की चादर से ढका था। देवदार-चीड़ से छनकर आती सर्द हवा, चिड़ियों की चहचहाहट, प्राकृतिक सौंदर्य के बीच गाँव के बाहर से भेड़-बकरियों के झुण्ड को हाँकता हुआ चरवाहा वगैरह ऐसे मनोरम दृश्यों का काल्पनिक सृजन किया गया है जिससे दर्शक रोमांचित हो जाते हैं। कुल मिलाकर नाटक अपने उद्देश्य में पूरी तरह सफल रहा।

दरअसल, कश्मीर एक एब्सर्ड जगह है। *90* के दशक में जहाँ एक तरफ कश्मीरी हिन्दुओं का धार्मिक उत्पीड़न करके उन्हें निर्वासित होने के लिए मजबूर होना पड़ा, उनकी हत्याएं हुईं। आज उसी कश्मीर की घाटी में स्थानीय मुस्लिमों की स्थिति बड़ी विकट है। उनकी रोजमर्रा की जिंदगी संगीनों के साये में और बारूद की गंध के बीच सिसकती है। कुछ अलगाववादियों और कुछ आतंकवादियों के कारण वहाँ हमेशा गोलीबारी की, हिंसा की, मुठभेड़ की घटनाएं होते रहती हैं और इन घटनाओं के बीच असंख्य आम कश्मीरी पिसते हैं। वे भय के वातावरण में असामान्य संख्या में सेना के जवान की मौजूदगी में अपनी जिंदगी गुजारते हैं और किसी भी घटना के बाद सुरक्षा बलों के शक की पहली सुई उन तक ही पहुँचती है। मोहित तकलकर के निर्देशन में खेला गया नाटक 'कश्मीर-कश्मीर' ऐसी ही विसंगत स्थिति का रूपक बनकर आता है। इसमें कश्मीर की परिस्थितियों को होटल के रूपक में ढालकर दिखाया गया है।

'मैं हूँ यूसुफ और ये है मेरा भाई' नाटक में वर्णित घटनाक्रम की पृष्ठभूमि सन् 1948 की है जब फिलिस्तीन की धरती पर इस्राइल बनाया जा रहा था और तब इस प्रक्रिया में फिलिस्तीनियों पर क्या गुजर रही थी। जनवरी, 1948 में संयुक्त राष्ट्र संघ वोटिंग के जरिए फिलिस्तीन और इस्राइल के राजनीतिक क्षेत्र का निर्धारण कर रहा था। जमीन के बँटवारे के बाद लोगों का बँटवारा होगा और लंबे समय से किसी क्षेत्र में रहने वाले फिर उसी जमीन पर शरणार्थी मान लिए जाएंगे। लगभग इसी समय भारत-पाकिस्तान विभाजन हो चुका था और यहाँ के भी असंख्य लोग इस मानवीय त्रासदी से गुजर चुके थे, इसलिए इसके बावजूद कि यह नाटक फिलिस्तीन पर आधारित है, इसमें कुछ भी अजनबीयत का एहसास नहीं होता। जिस तरह विभाजन यहाँ के

लाखों लोगों के लिए अंतहीन और भयंकर पीड़ादायक अनुभव था उसी तरह वह समय फिलिस्तीन के लाखों लोगों के लिए भी बहुत यातनादायी अनुभव था। निर्देशक मोहित तकलकर लिखते हैं- ''हर दिन मैं रिहर्सल हॉल में एक नए उत्साह और इस नाटक की विभिन्न परतों और वृतांतों को खोलने के इरादे के साथ प्रवेश करता और जब वहाँ से निकलता तो आँखें नम होतीं और गला सूखा।... रिहर्सल के दौरान घर, हृदय, असफलता, शोक, आँसू, आघात, भय, उम्मीद और विछोह जैसे अनेक शब्द के रोज नए अर्थ खुलते।''[1]

विभाजन के बाद के विस्थापन और उससे बदलते मानवीय संबंधों के एक पक्ष पर आधारित यह नाटक 19वें भारत रंग महोत्सव के सबसे सफल नाटकों में माना गया। नाटक में अली नामक के युवक को नाडा नामक युवती से प्यार है लेकिन अली निराशा का शिकार है क्योंकि नाडा के पिता यह शादी नहीं होने देंगे। इसके पीछे बदली हुई राजनीतिक स्थिति है। विभाजन के बाद गाँव के लोग शरणार्थी बनकर यहाँ-वहाँ फैलकर विस्थापित हो जाते हैं और इसी क्रम में अली अपने दिव्यांग भाई यूसुफ के साथ नाडा से दूर हो जाता है। देखने में तो यह नाटक अली, उसकी प्रेमिका नाडा और उसके भाई यूसुफ के बीच के आपसी प्रेम-संबंधों पर आधारित है लेकिन वास्तव में इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता इसके राजनीतिक संदेश में है जो इसे एक उल्लेखनीय प्रस्तुति बनाता है। रंग आलोचक रविन्द्र त्रिपाठी लिखते हैं-''नाटक में इतिहास और वर्तमान भी है जो समकालीन यातना और पीड़ा का बयान करते हैं। फिलिस्तीनियों को उस जमीन से बेदखल कर दिया गया है जहाँ वे सदियों से रह रहे हैं। दर्शक नाटक के रूप में उस दर्द भरे गीत को सुनते हैं, जो दिल और चेतना को झकझोता है।''[2]

नाटक को देखकर बाहर आने और उसको महसूस करने के अनुभव के बारे में कहा जा सकता है कि सारी कलात्मक विधाओं का उत्कर्ष अन्ततः उसके कविता हो जाने में है। इस तरह से 'मैं हूँ यूसुफ और ये है मेरा भाई' सिर्फ एक नाटक नहीं, एक मुकम्मल कविता है- एक लंबी और यातना से भरी हुई कविता।

प्रसिद्ध रंग-निर्देशक अरविंद गौड़ द्वारा निर्देशित 'फाइनल सोल्यूशन' नाटक धार्मिक कट्टरता के कारण नफरत की भट्ठी में बदल चुके आज के समाज की पृष्ठभूमि बताने का काम करता है। महेश दत्तानी द्वारा लिखे गए इस नाटक में दो कालखंडों को जोड़कर कहानी बताई गई है। आजादी के तुरंत बाद 1948 में पाकिस्तान में रहने वाली दक्षा भारत आ जाने के कारण अपनी प्रिय सहेली से अलग हो जाती है। दोनों शमशाद बेगम और नूरजहाँ के गायन के प्रशंसक हैं जो एक साथ भारत-पाक की साझी विरासत हैं।

विभाजन के चालीस साल बाद दक्षा का परिवार गुजरात में बसा हुआ है। सालों बाद दक्षा के परिवार में उनका बेटा रमणिक गांधी, बहू अरूणा और पोती स्मिता हैं। स्मिता कॉलेज की छात्रा है जिसकी सहेली तस्नीम हॉस्टल में रहकर पढ़ाई करती है। 1988 वह साल है जब भारत में राजनीतिक परिवर्तन तेजी से होता है और धर्म राजनीति के केन्द्र में आने लगता है। 1990 में तत्कालीन शीर्ष राजनेता लालकृष्ण आडवाणी राम जन्मभूमि निर्माण के लिए विवादित रथ यात्रा निकालते हैं। नाटक में इसी दौर को आधार बनाया गया है।

गुजरात में रथयात्रा के दौरान मुस्लिमों द्वारा हिंदू देवता की मूर्ति तोड़े जाने की अफवाह उड़ती है जिससे साम्प्रदायिक तनाव बढ़ जाता है। स्मिता की दोस्त तस्नीम बताती है कि उसके हॉस्टल में बम फेंककर तोड़-फोड़ की गई है, स्मिता के पिता तस्नीम से बातकर उसे हौसला देते हैं। इसी समय भीड़ की हिंसा से बचते हुए दो मुस्लिम युवक रमणिक के घर में शरण माँगते हैं और भीड़ द्वारा दी गई तमाम धमकियों के बावजूद रमणिक दोनों युवक जावेद और बॉबी को शरण देते हैं। स्मिता दोनों युवकों को जानती है वह बताती है कि जावेद तस्नीम का प्रेमी है और किसी आतंकी संगठन से जुड़ाव होने के कारण घर से निकाल दिया गया है। जावेद बताता भी है कि उसे रथ यात्रा के पुजारी को मार देने का काम सौंपा गया था लेकिन वह ऐसी हिम्मत नहीं कर पाया। रमणिक दोनों युवकों को समझाते हैं और उसे नेक राह पर चलने की सीख देते हुए अपनी दुकान में काम करने का प्रस्ताव देते हैं। जावेद प्रस्ताव को ठुकरा देता है।

जावेद का दोस्त बॉबी बताता है कि जावेद अपने इलाके का बहुत भला लड़का था लेकिन हिंदू प्रतिक्रियावादियों की नफरतभरी टिप्पणियों से बदलता चला गया। इस पर जावेद टिप्पणी करता है- 'बहुसंख्यक होना अच्छा होता है'। इस एक वाक्य से जावेद की पीड़ा को समझा सकता है। माहौल थोड़ा शांत होने और दोनों के घर से जाने के बाद रमणिक बताते हैं कि विभाजन की हिंसा में रमणिक ने अपने पिता और दादा के साथ मिलकर अपनी माँ दक्षा की सहेली जरीन की दुकान जला दी थी जिससे जली दुकान सस्ती कीमत में खरीदी जा सके।

कुल मिलाकर रमणिक को अब अपने किए का पछतावा है और अब वे साम्प्रदायिक सद्भाव के महत्त्व को समझ रहे हैं। नाट्य-प्रस्तुति में साम्प्रदायिक तनाव के दौरान तीन पीढ़ी के मानसिक तनाव और उहापोह को बखूबी प्रेरित किया गया है। कला की दुनिया में इस तरह के विषय पर बात करने वाले नाटक, फिल्में, सीरियल की बहुत कमी है। कुछ साल पहले प्रदर्शित फिल्म 'मुल्क' में इसी तरह के तनाव, और अल्पसंख्यकों के अंतस में बैठ चुके अलगाव के भाव के कारणों पर बहुत अच्छे से बात की गई है। उनकी सख्त आपत्ति इस बात पर है कि क्यों अलग धार्मिक पहचान के कारण उनसे ही हमेशा देशभक्ति का प्रमाण माँगा जाता है, क्यों उनकी अलग वेशभूषा के कारण उनके साथ 'अन्य' और 'गैर' के रूप में बर्ताव किया जाता है। यहाँ तक कि शीर्ष स्तर का राजनीतिक नेतृत्व भी ऐसी बातों को ही बढ़ावा देता है।

'फाइनल सोल्यूशन' की नाट्य-प्रस्तुति इस मूल तत्व को उजागर करती है कि साम्प्रदायिक नफरत और हिंसा के बीज समाज की भीड़ में नहीं बल्कि हमें अपने भीतर बैठे पूर्वग्रह में खोजने चाहिए। यही संदेश देने के लिए निर्देशक अरविंद गौड़ ने एक चेहराविहीन हिंसक भीड़ की परिकल्पना की और पूरी नाट्य-प्रस्तुति के दौरान उसकी छाया और शोर की निरंतर उपस्थिति की संरचना की। अरंविद गौड़ अपने प्रयोग के बारे में लिखते हैं- ''भीड़ का यह कोरस, हिंसक शोर चरित्रों के संघर्ष का प्रतिनिधित्व करता है। यह कोरस स्वर न सिर्फ चरित्रों की मानसिक और शारीरिक उग्रता के प्रतिनिधित्व का प्रतीक है बल्कि यह दर्शकों के सामने निरंतर उसको दृश्य (इमेज) के रूप में प्रेषित भी करता रहता है।...भीड़ के हिंसक शोर में किसी भी समुदाय के

स्टेरियोटाईप का इस्तेमाल नहीं किया गया है क्योंकि साम्प्रदायिकता का कोई चेहरा नहीं होता है। यह एक मनोवृत्ति है जो पूरे समाज में व्याप्त है।''[3]

अस्मिता थिएटर ग्रुप की परंपरा रही है कि वह बिना किसी अनुदान के मामूली साजो-सामान के साथ गंभीर और सशक्त कथ्य पर आधारित नाटक करता है, इसलिए नाटक का सेट डिजाइन भी सामान्य और वातावरण के अनुकूल ही रखा गया था। नाट्य-प्रस्तुति को समसामयिक बनाने के लिए इसमें साम्प्रदायिक भीड़ की परछाई का अनूठा प्रयोग किया गया जिसकी वजह से प्रस्तुति ने पाठ की आत्मा को बरकरार रखते हुए दृश्य-अपील को कई गुना बढ़ा दिया। समीक्षक निखत काजमी लिखते हैं-''पूरी प्रस्तुति के दौरान पृष्ठभूमि में लगातार हिंसक शोर की परछाई बनाए रखना उस साम्प्रदायिक संकट का प्रतिनिधित्व करता है जिसका इतिहास मुल्क के विभाजन से शुरू होता है। यह प्रयोग बहुत प्रभावी, सामयिक और कलात्मक रूप से अभिनव है। अस्मिता की यह प्रस्तुति हबीब तनवीर की 'जिन लाहौर नहीं देख्या' और सईद मिर्जा की 'नसीम' की याद दिलाती है जो साम्प्रदायिकता पर ऐतिहासिक और मील का पत्थर प्रस्तुति मानी जाती है।''[4]

भारत विविध संस्कृतियों के साथ-साथ पाखंडी मनोवृत्तियों और पूर्वाग्रहों का भी देश है। हम अपने देश में मौजूद संस्कृतियों की विविधता का गुणगान करते नहीं थकते हैं लेकिन उसे स्वीकार करने में हमारा पाखंड और पूर्वग्रह आड़े आ जाता है। समय-समय पर यूरोप, अमेरिका या ऑस्ट्रेलिया से जब मूल भारतीयों के उत्पीड़न की खबरें आती हैं तो हमारी अस्मिताएँ मुखर हो जाती हैं और उन देशों में रंग और नस्ल के आधार पर भेदभाव की तीखी आलोचना करते हैं। हिंदी के एक मशहूर गाने की पंक्ति भी है- 'काले-गोरों का भेद नहीं, हर दिल से हमारा नाता है।' भारत के संविधान की प्रस्तावना में भी लिखा है कि भारत एक लोकतांत्रिक देश है जहाँ वैचारिक अभिव्यक्ति, धार्मिक, जातीय और साँस्कृतिक पहचान के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होगा। लेकिन आज आजादी के सत्तर साल बाद भी देखें तो क्या वास्तव में ऐसा है? आए दिन अखबारों में आती खबरें इस आदर्श की असफलता की इबारत लिखती रहती हैं। इस असफलता के पीछे भारतीयों का पूर्वग्रह, वैचारिक पाखंड और भेदभाव करने की मूल प्रवृत्ति ही है। तभी दूसरे देशों में हो रहा भेदभाव हमें बुरा लगता है लेकिन वही भेदभाव जब देश में होता है तो हम उसकी अनदेखी करते हैं।

मोलिना सिंह की श्री राम सेंटर में हुई नाट्य-प्रस्तुति 'लोकल फॉरनर' इसी मुद्दे को उठाती है जिसे कत्थक और मणिपुरी नृत्य के संयोजन के साथ पेश किया गया। नाटक में एक मणिपुरी लड़की सानातोंबी दिल्ली के मशहूर कत्थक केन्द्र में नृत्य सीखने आती है। दिल्ली में उसे लगातार एहसास कराया जाता है कि वह किसी पराए देश में आ गई है। उससे पूछा जाता है कि वह चीन की रहने वाली है या नेपाल की, उसकी आँखें इतनी छोटी क्यों है, उसकी नाक इतनी चपटी क्यों है? वह तंग होकर नाक में क्लिप लगाकर उसे नुकीली करने का पीड़ादायक प्रयास भी करती है। सहपाठी उससे पूछते हैं कि वह जहाँ की रहने वाली है वहाँ के लोग कुत्ते भी खाते हैं क्या? दुकानदार उसे विदेशी समझ ज्यादा कीमत पर सामान बेचने की कोशिश करता है। कुछ

लोग उसका यौन शोषण भी करना चाहते हैं। सानातोंबी लाख कोशिश करती है कि वह दिल्ली में रम सके लेकिन उसके साथ जो व्यवहार होता है, उससे वह लगातार दुखी रहती है।

हम जानते हैं कि पूर्वी राज्यों के हिंदीभाषी कामगार दूसरे राज्यों में यथा महाराष्ट्र, गुजरात, दिल्ली जाते हैं तो 'बिहारी', 'भैया' इत्यादि कहकर उनका मजाक उड़ाया जाता है और कई मौकों पर क्षेत्रीय पहचान के कारण ही उनसे मारपीट भी की जाती है। इसी तरह पूर्वोत्तर के राज्यों के विद्यार्थी जब बड़े महानगरों में उच्च-शिक्षा के लिए आते हैं तो इनके पारंपरिक रहन-सहन, खान-पान के तरीके, शारीरिक ढाँचे और पश्चिमी पहनावे की वजह से लोग न सिर्फ 'चिंकी', 'चीनी' कहकर इनपर व्यंग्य करते हैं बल्कि कई बार तो लोग इनको अपनी यौन कुठाओं के लिए सहज उपलब्ध भी मानने लगते हैं। अपने ही देश में इस तरह का व्यवहार उन्हें कई पीड़ादायक अनुभव से गुजारता है। कोविड के समय की बात है, उत्तरी दिल्ली के एक इलाके में कोई अधेड़ उम्र का व्यक्ति राह चलती पूर्वोत्तर की एक अनजान छात्रा के सामने आकर उसे 'चीनी' बोलता है, उसे कोरोना का जिम्मेदार बताता है और उसके चेहरे पर थूककर चला जाता है और यह खबर अखबार की सुर्ख़ियों में आ जाती है। इसी तरह दिसंबर 25 की बात है, उत्तराखण्ड की राजधानी देहरादून में त्रिपुरा के एक विद्यार्थी का उसके शारीरिक ढाँचे के कारण लोगों ने 'चीनी' कहकर मजाक उड़ाया और विरोध करने पर उसकी पीट-पीटकर हत्या कर दी।

इस तरह की शर्मसार करने वाले घटनाओं के कारण ही हमारे देश के ही लोग अपने देशवासियों के बीच खुद को विदेशी महसूस करने के लिए मजबूर कर दिए जाते हैं और उनमें अलगाव की भावना पैदा होने लगती है। ऐसे में हम किस मुँह से दूसरे देशों में भारतीयों के साथ भेदभाव होने का विरोध कर सकते हैं। रंग-समीक्षक रविन्द्र त्रिपाठी लिखते हैं- ''नाटक भारत में अन्तर-साँस्कृतिक संबंधों की जटिलता को पेश करता है। जब एक खास तरह की संस्कृति के लोग किसी कारण देश के दूसरे हिस्से में, खासकर महानगरों में जाते हैं तो वहाँ कई प्रकार के पूर्वाग्रहों का शिकार होना पड़ता है।... इन पूर्वाग्रहों की कई वजहें हैं पर मूल रूप में यह है कि हम अभी भी देश के बारे में बहुत कम जानते हैं।''[5] एकल पात्रीय इस नाटक में इस तथ्य को खूबसूरत नृत्य-संयोजन के साथ बखूबी प्रस्तुत किया गया है।

हमारा विकासशील रूढ़िवादी समाज हमेशा ऐसे मुद्दों से आँखें चुराता है जो उसे उसके सुविधाजनक स्थिति से विचलित करता है और फिर व्यापक स्तर पर एक स्वस्थ और सार्थक बहस नहीं हो पाती है। धर्म, जाति, सेक्स वगैरह ऐसे ही मुद्दे हैं जिनपर समाज में संवाद करने की एक स्वस्थ परंपरा नहीं है, नतीजा यह होता है कि हमारे अंतस में व्यक्ति के मौलिक, मानवीय और नागरिक अधिकार की समझ भी विकसित नहीं हो पाती और हम भेदभाव वाला स समाज बने रहने के लिए अभिशप्त हैं। एक रचनात्मक और कल्पनाशील माध्यम होने के नाते सभी कला माध्यमों की जिम्मेदारी है कि वह अपने माध्यम के जरिए समाज को इसके प्रति समझदार बनाए। प्रत्यक्ष और दृश्य माध्यम होने के कारण रंगमंच इन मुद्दों के जटिल पहलुओं को उभारने में, सार्वजनिक बहस का विषय बनाने में अन्य माध्यमों से अधिक समक्ष है। यह माध्यम एक तरह से सामाजिक

व्यवस्था की राजनीति से दो चार होना सिखाता है। इसलिए इस प्रकार के प्रयोगात्मक नाटक और प्रस्तुतियों की भारतीय समाज को बहुत आवश्यकता है। जाने- माने निर्देशक बापी बोस लिखते भी हैं कि ''रंगमंच एक दर्शन है, जीवन संबंधी अवधारणा है। यह दुनिया को सुन्दर, सम्पन्न और जीने योग्य बनाने का दर्शन है, ताकि इस संसार में हर कोई समान अधिकार और अभिव्यक्ति के साथ जी सके।''[6]

संदर्भ

1. मोहित तकलकर, ब्रोशर, मैं हूँ युसूफ और यह है मेरा भाई
2. रविन्द्र त्रिपाठी, राष्ट्रीय सहारा, 26 फरवरी 2017
3. अरविंद गौड़, ब्रोशर, फाइनल सोल्यूशन
4. निखत काजमी, sites.google.com/asmitatheatre/reviews/final solution, (21 June 2020 seen)
5. रविन्द्र त्रिपाठी, राष्ट्रीय सहारा, 27 दिसम्बर 2015
6. बापी बोस, रंग-प्रसंग- 46, 2016, पृ. 65